

## बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:31-07-19

# महज सूचकांक से नहीं लगता प्रगति का सही अंदाजा

**कनिका दत्ता**

वैश्विक स्तर पर अपने प्रदर्शन को आंकने के लिए आतुर देशों की नजर में वैश्विक सूचकांक तेजी से मापदंड बनते जा रहे हैं। खास तौर पर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) के लिए जद्दोजहद कर रहे विकासशील देशों के बीच इन सूचकांकों को लेकर खास आकर्षण देखा जा रहा है। सवाल है कि क्या इन सूचकांकों को किसी देश की प्रगति का सटीक संकेत माना जा सकता है? कई सूचकांकों में भारत के अलग-अलग प्रदर्शन को देखें तो इसमें संदेह की काफी गुंजाइश नजर आती है। मसलन, हाल ही में जारी वैश्विक नवाचार सूचकांक में भारत की रैंकिंग के पांच स्थानों के सुधार के साथ 52वें नंबर पर पहुंच जाने को लेकर अच्छा-खासा रोमांच देखा गया है। इसी तरह कुछ समय पहले आई विश्व बैंक की कारोबारी सुगमता रैंकिंग में भी भारत का स्थान 100 से उछलकर 77 पर आ गया था। मोदी सरकार की तरफ से उठाए गए कुछ सकारात्मक कदमों का इस जबरदस्त उछाल में योगदान रहा है। सरकार ने कारोबारी सुगमता रैंकिंग में शामिल मापदंडों पर नजदीकी नजर रखने के लिए एक कार्यबल गठित किया था। वाणिज्य मंत्रालय की विज्ञप्ति के मुताबिक, इन कोशिशों का नतीजा यह हुआ है कि पिछले चार वर्षों में भारत की रैंकिंग में 65 पायदान का सुधार देखने को मिला है।

वैश्विक नवाचार सूचकांक को पहली बार किसी विकासशील देश में जारी किया गया है। नई दिल्ली में आयोजित इस कार्यक्रम में वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री पीयूष गोयल ने जोशीले अंदाज में कहा कि 'एक नया नजरिया भारत की नई पहचान बन चुका है और हम एक अधिक समृद्ध देश बनते जा रहे हैं।' उनके ये शब्द उत्तेजना जगाते हैं लेकिन मौजूदा हालात को बढ़ा-चढ़ाकर भी पेश करते हैं। हमारे पास भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (आईआईटी) और भारतीय विज्ञान संस्थान (आईआईएससी) जैसे कुछ विश्वस्तरीय शिक्षण संस्थान हैं और हम वैश्विक स्तर पर आईटी एवं इंजीनियरिंग क्षेत्र की बड़ी ताकत भी हैं। फिर भी यह सोचने वाली बात है कि भारतीय दूरसंचार उद्योग 5जी सेवाओं की शुरुआती तैयारियों के मामले में चीन, कोरिया एवं अमेरिकी कंपनियों पर ही आश्रित है। दवा क्षेत्र से इतर भारतीय कंपनी जगत शोध एवं विकास के मद में बहुत कम खर्च करता है और शायद ही कोई ऐसा हफ्ता गुजरता होगा जब कोई टिप्पणीकार या विश्लेषक चीन की वैश्विक तकनीकी महारत का जिक्र नहीं करता है। चीन का शोध एवं विकास पर प्रति व्यक्ति व्यय भारत की तुलना में आठ गुना है।

इसके बावजूद निस्संदेह यह सरकार नवाचार को बढ़ावा देने में सही मायने में रुचि ले रही है। विश्व बौद्धिक संपदा संगठन ने भी नीतिगत परिवेश में सुधार और बौद्धिक संपदा अधिकारों के आवंटन एवं परीक्षण में लगने वाला समय कम करने के लिए किए गए प्रयासों की सराहना की है। लेकिन बड़ी समस्या यह है कि कुछ खास सूचकांकों में प्रदर्शन सुधारने पर ध्यान देने भर से मनचाहा नतीजा नहीं सुनिश्चित किया जा सकता है। कारोबारी सुगमता रैंकिंग में प्रदर्शन सुधारने के बावजूद एफडीआई प्रवाह में कोई खास अंतर नहीं आया है (असल में यह घट ही गया है)। इसी तरह नवाचार

सूचकांक में भारत की रैंकिंग सुधारने से वह अचानक वैश्विक स्तर पर तकनीकी चैंपियन नहीं बनने जा रहा है क्योंकि ऐसी उपलब्धियां एकाकीपन में नहीं होता है।

इन दिनों बढ़ रही सूचकांकों की भीड़ में से किसी पर भी नजर डालें तो एक पैटर्न दिखेगा। इन सूचकांकों में अमेरिका, स्कैंडेनेविया, जर्मनी, चीन, ताइवान और सिंगापुर शीर्ष स्थानों पर मौजूद होते हैं। ये देश न केवल कारोबारी सुगमता एवं नवाचार जैसे मानकों पर काफी आगे हैं बल्कि मानव विकास सूचकांक और जीवन की गुणवत्ता से संबंधित मापदंडों पर भी उनकी स्थिति काफी मजबूत है। अकेले मानव विकास सूचकांक को ही देखें तो भारत लगातार पीछे खिसकता जा रहा है। वर्ष 2018 में भारत 189 देशों में से 130वें स्थान पर रहा और एक साल पहले की तुलना में उसकी रैंकिंग में केवल एक स्थान का ही सुधार हुआ था। हालत यह है कि भारत कई पैमानों पर पाकिस्तान, बांग्लादेश और सहारा क्षेत्र के अफ्रीकी देशों से भी पीछे रहा। भ्रष्टाचार धारणा सूचकांक में भारत की स्थिति 180 देशों में से 78वें स्थान पर ही है जो एक साल पहले के 81वें स्थान से मामूली सुधार ही दिखाता है। यह भी गौर करने वाली बात है कि वैश्विक प्रेस स्वतंत्रता सूचकांक में भारत की रैंकिंग दो स्थान की गिरावट के साथ 180 देशों में से 140वीं पर खिसक गई है।

अनूठे सूचकांकों के मामले में भी भारत की स्थिति कोई बेहतर नहीं है। विश्व खुशहाली सूचकांक को ही लीजिए। इसमें फिनलैंड के लोगों को सबसे खुशहाल बताया गया है। लेकिन छह महीने तक सूरज नहीं देख पाने वाले और अजीब तरह के खानपान वाले लोगों को भला इतना खुश क्यों होना चाहिए? दूसरी तरफ अतुल्य भारत, खूबसूरत पर्यटक स्थलों एवं दुनिया की बेहतरीन खानपान वाली जगह होते हुए भी भारत की 140वीं रैंकिंग खटकती है। खुशहाली रिपोर्ट में भारत भूटान, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल और श्रीलंका से भी नीचे मौजूद है।

हमारी कंपनियों का प्रदर्शन भी अच्छा नहीं है। संवेदना सूचकांक में कंपनियों का आकलन आंतरिक संस्कृति, सीईओ के प्रदर्शन, नैतिकता पालन और सोशल मीडिया मौजूदगी के आधार पर किया जाता है। आजकल कंपनी प्रबंधन के बीच संवेदना काफी पसंदीदा शब्द है। शीर्ष 20 संवेदनशील कंपनियों में एक भी भारतीय कंपनी शामिल नहीं है। वहीं सबसे कम संवेदनशील कंपनियों की 20 कंपनियों की सूची में भारत की आठ कंपनियां जरूर शामिल हैं। इसका मतलब है कि सूचकांकों में भारत की स्थिति सुधारने के लिए कार्यबल बनाने से कहीं अधिक प्रयास करने होंगे। लेकिन यह भी तय है कि इन मानदंडों पर सुधार लाए बगैर प्रगति के रास्ते पर बढ़ पाना भी मुश्किल होगा।

---

## सिर्फ कानून बदलने से बात नहीं बनेगी, सोच भी बदलें

### संपादकीय

धर्म के ठेकेदारों और समाज की तार्किक सोच का द्वंद्व शाश्वत है, क्योंकि कुछ धार्मिक-सामाजिक व्यवस्थाएं सोच दिक्कत का सापेक्ष होती हैं, जबकि समाज की सोच समय के साथ तार्किक होती जाती है। यह सभी धर्मों में होता है। तीन तलाक की व्यवस्था का वर्तमान स्वरूप न तो कुरआन-सम्मत है न ही मकबूल इस्लामिक स्कॉलरों द्वारा अनुमोदित। लिहाजा मोदी सरकार और देश की संसद ने यह जिम्मा लेकर समाज के मानवीय चिंतन पर एक बदनूमा दाग हटाने का क्रांतिकारी उपक्रम किया है। 90 साल पुरानी एक घटना से आज की स्थिति का मुजाहरा करें। 'अगर आज तुम इस विधेयक (सारदा बिल) का विरोध करते हो तो पूरा विश्व तुम पर हंसेगा' इस इबारत वाली तख्ती हाथ में लिए, नारे लगाती सैकड़ों औरतें बाल विवाह की कुप्रथा के खिलाफ धर्म के पोंगापंथी और कट्टर ठेकेदारों को जगा रही थीं। जगह थी सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेंबली (आज की संसद) भवन का गेट। ये महिलाएं, जिनमें मुसलमान औरतें भी थीं -अखिल भारतीय महिला संगठनों (ऑल इंडिया वीमेन्स कॉन्फ्रेंस, वीमेन्स इंडियन एसोसिएशन और नेशनल काउंसिल ऑफ वीमेन इन इंडिया) के बैनर के तले सदियों पुरानी बाल विवाह की कुप्रथा के खिलाफ आंदोलन कर रही थीं। इसके पहले पांच साल से असेंबली के कट्टरपंथी सदस्य बाल विवाह की उम्र (और शारीरिक संबंध के लिए सहमति की उम्र) को मात्र 14 साल करने के लिए ब्रिटिश हुकूमत और प्रगतिशील सोच वाले हिन्दू नेताओं के प्रयासों को यह कहकर खारिज कर रहे थे कि इससे हिन्दू धर्म की मूल भावनाएं आहत होंगी। इन विरोधों को खारिज करते हुए अंग्रेजों ने सारदा एक्ट पास किया। आंकड़े बताते हैं कि हर साल 32 लाख औरतें प्रसव पीड़ा में मर जाती थीं, क्योंकि दस या 12 साल में उनका शरीर बच्चे को जन्म देने के लिए तैयार नहीं होता था। यह संख्या प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, इटली और अमेरिका में मारे गए लोगों से ज्यादा थी। फिर अधिकांश बच्चे जन्म के दौरान या कुछ दिनों में या तो मर जाते थे या पूरी ज़िन्दगी कमजोर रहते थे। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि धर्म के ठेकेदार आदतन यथास्थितिवादी होते हैं (चाहे वह ईश्वरीय मूल सिद्धांतों के खिलाफ हो और अमानवीय हों) क्योंकि बदलाव से उनकी दुकानें खतरे में आ जाती हैं? आज जरूरत सोच बदलने की है, क्योंकि महज कानून बदलने से पूरा मकसद हासिल नहीं होता।

## न्याय में देरी से दरक रहा सामाजिक आर्थिक ढांचा

**विराग गुप्ता, (सुप्रीम कोर्ट में वकील हैं)**

यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि आजादी के बाद औपनिवेशिक न्यायिक प्रणाली को ज्यों का त्यों लागू करने से भारत में अनेक समस्याएं जन्मी हैं। नेताओं और अफसरों से अधिक जनता को मौजूदा न्यायिक व्यवस्था से निराशा है। यह भी एक सच है कि इंदिरा गांधी के दौर में आपातकाल के लिए न्यायपालिका भी जवाबदेह है। इंदिरा गांधी द्वारा लगाए गए आपातकाल के दौरान की गईं ज्यादतियों की हमेशा चर्चा होती है, लेकिन इसे भुला दिया जाता है कि इसमें न्यायपालिका का भी योगदान रहा। कानून के अनुसार जेल अपवाद है और जमानत नियम, फिर भी लाखों गरीब अदालती चक्की में पिस रहे हैं। न्याय में देरी और मुकदमों के अंबार की वजह से देश का सामाजिक एवं आर्थिक ढांचा दरक रहा है।

आम बजट और आर्थिक सर्वेक्षण में पांच ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था के लक्ष्य को हासिल करने के लिए न्यायिक सुधारों की जरूरत पर विशेष जोर दिया गया है, लेकिन यह समझना होगा कि न्यायिक व्यवस्था में सांकेतिक सुधारों के बजाय ठोस सुधारों की दरकार है। चूंकि अखिल भारतीय न्यायिक सेवा से निचली अदालतों में ही सुधार होगा इसलिए संसद को हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में जजों की नियुक्ति में भाई-भतीजावाद खत्म करने के लिए फिर से नए कानून बनाने की पहल करनी चाहिए।

आखिर जब केंद्र सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में सभी जजों की नियुक्ति कर दी है तो फिर अब समयबद्ध तरीके से लंबित मुकदमों का समाधान क्यों नहीं होता? जनता में भरोसा कायम रखने के लिए अनेक न्यायाधीशों द्वारा व्यक्तिगत स्तर पर कई प्रयास किए जा रहे हैं। राजस्थान उच्च न्यायालय के जजों ने माय-लॉर्ड की औपनिवेशिक संस्कृति को खत्म करने का स्वागतयोग्य निर्णय लिया है। वकीलों की संस्था बार काउंसिल ने 2006 में ही ऐसी पहल की थी, लेकिन उसे संस्थागत तौर पर लागू नहीं किया गया? सुप्रीम कोर्ट के चार वरिष्ठ जजों द्वारा पिछले साल की प्रेस कांफ्रेंस के बाद बहुत सनसनी पैदा हुई थी। इस साल भी एक हलफनामे ने मुख्य न्यायाधीश के साथ पूरी न्यायिक व्यवस्था को कठघरे में खड़ा कर दिया।

---

# नईदुनिया

Date:31-07-19

## समाज सुधार का बड़ा काम

### संपादकीय

तत्काल तीन तलाक संबंधी विधेयक पर राज्यसभा की मुहर लगना समाज सुधार की दिशा में एक बड़ी पहल है। अच्छा होता कि विपक्ष इस विधेयक के विरोध पर नहीं अड़ता और मुस्लिम समाज को यह संदेश देने में भागीदार बनता कि इस कुप्रथा को खत्म करने का समय आ गया है। क्या इससे अजीब बात और कोई हो सकती है कि कई विपक्षी दलों ने मुस्लिम समाज के उन नेताओं के साथ खड़े होना पसंद किया जो यह तर्क दे रहे थे कि तत्काल तीन तलाक की प्रथा गलत तो है, लेकिन उसे खत्म करने की पहल नहीं होनी चाहिए?

तत्काल तीन तलाक की कुप्रथा उन सामाजिक बुराइयों में से है जो महिलाओं को दोगुना दर्जे का नागरिक साबित करती है। क्या ऐसी कोई प्रथा धर्मसम्मत कही जा सकती है जो पति को पत्नी को एक झटके में छोड़ने का अधिकार देती हो? तत्काल तीन तलाक की बुराई के चलन में होने के कारण मुस्लिम महिलाएं अपने वैवाहिक भविष्य को लेकर आशंका से घिरी रहती थीं। इससे भी खराब बात यह थी कि जब उन्हें एक झटके में तीन तलाक दे दिया जाता था तो वे एक तरह से सड़क पर आ जाती थीं। इस हालत में उन्हें मुश्किल से ही कोई मदद मिलती थी।

यह दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि मुस्लिम नेताओं और धर्मगुरुओं ने अपने समाज की महिलाओं के साथ खड़े होने के बजाय तत्काल तीन तलाक का समर्थन करना बेहतर समझा। इस रवैये को देखते हुए यह आवश्यक हो गया था कि तत्काल तीन तलाक को दंडनीय अपराध बनाया जाए। इसकी जरूरत इसलिए और बढ़ गई थी, क्योंकि सुप्रीम कोर्ट की ओर से तत्काल तीन तलाक को अमान्य करार दिए जाने के बाद भी इस तरह के तलाक का सिलसिला कायम था। यह एक तरह से सुप्रीम कोर्ट को दी जाने वाली सीधी चुनौती ही थी।

एक झटके में तीन तलाक को दंडनीय अपराध बनाने के खिलाफ तरह-तरह के तर्क देने वाले जानबूझकर इसकी अनदेखी ही कर रहे थे कि दहेज की मांग करना भी दंडनीय अपराध है। जब समाज सामाजिक बुराइयों को खत्म करने में सहयोग देने से इन्कार करे तब फिर कानूनी उपायों का सहारा लेना जरूरी हो जाता है।

यह उम्मीद की जाती है कि मुस्लिम महिला विवाह अधिकार संरक्षण विधेयक के कानून बन जाने के बाद तत्काल तीन तलाक के मामले थमेंगे। ऐसा हो, इसके लिए मुस्लिम युवाओं को आगे आना चाहिए, क्योंकि कोई समाज तभी आगे बढ़ता है जब उसकी महिलाओं को मान-सम्मान मिलता है। अब जब मुस्लिम महिलाएं भी अधिकार संपन्न होने जा रही हैं तब फिर यह जरूरी हो जाता है कि समान नागरिक संहिता की दिशा में आगे बढ़ा जाए।

Date:30-07-19

# चिकित्सा शिक्षा का आयोग

## संपादकीय



नेशनल मेडिकल कमीशन बिल पर लोकसभा की मुहर के साथ ही यह उम्मीद बढ़ गई है कि जल्द ही राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग का गठन होगा। इस आयोग के गठन का एक बड़ा उद्देश्य भारत को विश्व स्तरीय मेडिकल शिक्षा का केंद्र बनाना है। मेडिकल कमीशन बिल को कानूनी स्वरूप दिए जाने का इंतजार इसलिए हो रहा है, क्योंकि ऐसा होने पर ही उस मेडिकल काउंसिल से छुटकारा मिल सकेगा जिसके बारे में इस नतीजे पर पहुंचा गया था कि वह एक अक्षम और भ्रष्टाचार से ग्रस्त संस्था है।

हालांकि नेशनल मेडिकल कमीशन बिल के कुछ प्रावधानों का विरोध भी हो रहा है, लेकिन ऐसा करीब-करीब हर विधेयक के मामले में देखने को मिलता है। इतने बड़े देश में ऐसे किसी विधेयक का निर्माण मुश्किल ही है जिसके सभी प्रावधानों पर हर कोई सहमत हो सके।

देखना है कि सरकार इस मांग पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करती है या नहीं कि मेडिकल छात्रों को एग्जिट परीक्षा देने का अवसर एक से अधिक बार मिले? जो भी हो, उचित यही है कि विपक्षी राजनीतिक दल यह समझें कि राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग के गठन का समय आ गया है। इस आयोग के जरिये केवल मेडिकल शिक्षा की विसंगतियों को ही दूर करने में मदद नहीं मिलेगी, बल्कि चिकित्सकों और खासकर विशेषज्ञ चिकित्सकों की कमी को दूर करने का लक्ष्य भी पूरा किया जा सकेगा। फिलहाल यह एक कठिन लक्ष्य दिख रहा है।

चिकित्सा शिक्षा और शोध में सुधार की पहल एक ऐसे समय हो रही है जब शिक्षा के अन्य क्षेत्रों में भी सुधार की कवायद चल रही है। नई शिक्षा नीति के मसौदे को इसी सिलसिले में देखा जाना चाहिए। वर्तमान में शिक्षा के हर स्तर पर व्यापक सुधार की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह समय की मांग है कि शिक्षा संबंधी कोई ऐसा राष्ट्रीय आयोग भी बने जो विभिन्न क्षेत्रों के शिक्षा संस्थानों के तौर-तरीकों और मानकों में एकरूपता लाने का काम कर सके।

ऐसा कोई आयोग ही विभिन्न मंत्रालयों से जुड़े शिक्षा संस्थानों को समान धरातल पर लाने और उनकी गुणवत्ता को एक स्तर प्रदान का काम कर सकता है। यह आयोग मानव संसाधन विकास मंत्रालय, कृषि मंत्रालय, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्रालय और स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के शिक्षा संस्थानों में समन्वय बैठाने का भी काम कर सकता है।

ध्यान रहे आज की जरूरत केवल यही नहीं है कि हमारी मेडिकल शिक्षा विश्वस्तरीय हो, बल्कि यह भी है कि तकनीक, कृषि, प्रबंधन आदि से जुड़ी शिक्षा का भी स्तर सुधरे। यह जरूरत इसलिए और बढ़ गई है, क्योंकि सरकार इस कोशिश में है कि विदेशी छात्र भी भारत आकर उच्च शिक्षा ग्रहण करें।

## बढ़ते बाघ

### संपादकीय

कहा जाता है कि एक समय में दुनिया में जितने बाघ थे, इस वक्त उसके पांच प्रतिशत ही रह गए हैं। ऐसे समय में, जब दुनिया में बाघों की संख्या लगातार कम हो रही है, अपने देश में उनकी तादाद का बढ़ना एक सुखद समाचार है। सोमवार को विश्व बाघ दिवस पर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने बाघगणना के जो ताजा आंकड़े जारी किए, वे आश्चर्य में डालने वाले तो हैं ही, साथ ही बाघों के संरक्षण को लेकर देश में किए जा रहे प्रयासों पर उम्मीद भी बंधाते हैं। साल 2014 में हुई पिछली बाघगणना के समय देश में बाघों की संख्या 2,226 आंकी गई थी, जो इस बार बढ़कर 2,967 हो गई है, यानी इस बार करीब एक तिहाई की बढ़ोतरी देखने को मिली है। हालांकि संख्या बढ़ने की यह उम्मीद बाघगणना शुरू होते समय ही थी, क्योंकि पहले इंतजाम ठीक से न होने पाने के कारण पूर्वोत्तर के राज्यों की बाघगणना नहीं मिल पाती थी, पर इस बार इसके इंतजाम ठीक से किए गए। हालांकि देश में बाघों की संख्या बढ़ने का यह अकेला कारण नहीं है। अगर छत्तीसगढ़ और मिजोरम को छोड़ दिया जाए, तो देश के तकरीबन सभी हिस्सों में बाघों की संख्या काफी बढ़ी है। खासकर मध्य प्रदेश, कर्नाटक और उत्तराखंड में। संतोष की बात यह भी है कि बाघों की संख्या बढ़ने का यह सिलसिला विगत एक दशक से जारी है, 2006 की बाघगणना में उनकी संख्या 1,411 पाई गई थी।

दुनिया भर में बाघों की संख्या घटने के जो भी कारण हैं, वे सभी भारत में मौजूद हैं। आमतौर पर इसके दो बड़े कारण माने जाते हैं। एक तो है उन जंगलों का लगातार कटते जाना, उनका आकार घटते जाना, जो बाघों के प्राकृतिक आवास हैं और दूसरा, बाघों का अवैध कारोबार और उसकी वजह से होने वाला उनका शिकार। माना जाता है कि पिछले कुछ समय में वन विभाग काफी सक्रिय हुआ है और अवैध कारोबार व शिकार पर सख्ती बरतने से ये नतीजे हासिल हो सके हैं। हालांकि बाघ के प्राकृतिक आवास क्षेत्रों के लगातार कम होते जाने की समस्या अभी भी बनी हुई है। तमाम रिपोर्टें यही बताती हैं कि बाघों के लिए देश में जो संरक्षित वन हैं, उनमें मानव आबादी भी बढ़ रही है और मानव आबादी की वैध व अवैध दखल भी। अभी कुछ समय पहले जब बाघ को केदारनाथ के पास वन में 12 हजार फुट की ऊंचाई पर देखा गया, तो विशेषज्ञों ने यह अनुमान लगाया था कि बाघ अब शायद अपने लिए नया प्राकृतिक आवास खोज रहे हैं। इसके पहले तक बाघ को इतनी ऊंचाई पर विचरण करते कभी नहीं देखा गया था। जाहिर है कि अगर इन स्थितियों के बीच भी देश में बाघों की संख्या बढ़ रही है, तो यह संरक्षण कार्यक्रमों की एक बड़ी सफलता है।

बाघ हमारे ज्यादातर वनों के पारिस्थितिकीय तंत्र के शिखर का प्राणी है। माना जाता है कि अगर बाघ पूरी तरह समाप्त हुए, तो वनों का पूरा तंत्र असंतुलित हो सकता है। इसीलिए दुनिया भर के वनों में रहने वाले बाघों को बचाने और उनकी संख्या बढ़ाने पर जोर दिया जा रहा है। इसके लिए विश्व वन्य जीवन फाउंडेशन ने 2010 में यह लक्ष्य तय किया था कि 2022 तक पूरी दुनिया में बाघों की संख्या को दोगुना कर लिया जाएगा। भारत ने भी इस लक्ष्य को स्वीकार किया था,



लेकिन इसे हासिल करने के लिए जरूरी है कि उन वनों को बचाया जाए, जहां प्रकृति का यह सबसे सुंदर और ताकतवर जीव रहता है।



*Date:30-07-19*

## Partnership lessons

**TV Somanathan, And Gulzar Natarajan. The writers are IAS officers.**



As India deepens private participation in infrastructure through Public Private Partnerships (PPPs), it is an opportune moment to explore the lessons from the UK, the pioneer in the use of PPPs and privatisation in infrastructure.

In 1989, the UK government handed over water and sewerage services to private monopolies after assuming the sector's £4.9 bn debt and giving a £1.5 bn one-time grant. An analysis of water regulator Ofwat's accounts shows that the companies have since piled up £51 bn in debt and paid out £56 bn in dividends. In the 10 years to 2016, the nine companies paid out £18.1 bn in dividends from post-tax profits of £18.8 bn. They financed maintenance and improvements in infrastructure almost entirely by debt, despite generating enough cash to cover the investments out of internal resources. A study found that refinancing all the equity and debt capital with public debt would reduce costs by £2.3 bn a year and lower household bills by 40 per cent.

In the same 10 years, Thames Water, which services London and was owned by infrastructure fund Macquarie, paid out £1.6 bn in dividends, assumed £10.6 bn in debt, ran up a £260 mn pension deficit and paid no UK corporate tax. In its 11 years of ownership, Macquarie generated 15.9-19 per cent returns. Interestingly, Scottish Water, the only one of the 10 companies which has remained public, with similar efficiency and quality, is the least leveraged and has the lowest tariff, despite investing 35 per cent more than the rest over the last 16 years.

The balance sheet is similar with the railways. Privatisation unravelled quickly with the rail track operator being re-nationalised for safety reasons. The remaining private part, train operators, is heavily subsidised, costing £3.3 bn in 2016-17. Despite rising fares, public spending has nearly doubled in real terms from £2.3 bn to £4.2 bn from 1996 to 2016-17. In the 2012-16 period, these private companies paid out as dividends £634 mn of the £868 mn operating profits. A 2011 government report found the cost of running UK railways 40 per cent higher, and fares 30 per cent higher, than the rest of Europe. Cost per passenger kilometre in 2010 was the same as 1996, despite vastly expanded usage. Asset stripping by high dividends and higher prices for consumers were a feature in electricity and gas too.

A National Audit Office (CAG equivalent) assessment of the UK's pioneering Private Finance Initiative (PFI) found that schools and hospitals built with PFI are 40 per cent and 60 per cent more expensive than their respective public sector alternatives. Using the government's lower borrowing cost to discount the cost of projects, it found that very few PFI projects would have passed the Value for Money test. It concluded that the country had "incurred billions of pounds in extra costs for no clear benefit".



The balance sheet on service quality is not much better. Over 2000-11, the reliability and punctuality of British rail increased from 88 to 91 per cent, a small increment given the advances in digital technology and massive public investments. Skimping on investments on the less salient parts of the privatised water and sewerage utilities has taken its toll on the environment. A 2018 Environment Agency report stated that only 14 per cent of English rivers met the minimum standards, down from almost 25 per cent in 2009. Other studies have traced this to release of untreated sewage, attracting a slew of large fines, including a £20.3 mn fine in 2017 on Thames Water for dumping 4.2 bn litres of sewage in a case described by the judge as “borderline deliberate”.

An early 2018 poll by Legatum Institute found that 76-83 per cent favoured renationalising the railways, energy, and water industries. The Labour party has announced that it would renationalise the utilities. Finally, in his 2018 Budget speech, after 716 projects since 1992, the Chancellor of Exchequer formally brought down the curtain on PFI saying he would never sign a PFI contract.

How relevant is the UK experience to India? In the UK, the starting point in terms of efficiency and service quality was high, and corruption in service delivery low. The Indian public sector suffers from peculiarly Indian constraints. Political interference in recruitment, competitive trade union activity (witness the posters in every railway station), rigidities on salaries and writs in courts on service matters, reduce the efficiency of personnel management in the public sector. Activities of oversight agencies — Vigilance, Comptroller and Auditor General etc — cause extreme risk aversion in decision taking, reducing efficiency of procurement and operational decisions.

The starting point in India may often be a public agency which is inefficient, corrupt at the point of contact with the citizen and providing very poor service. With a much lower starting point, it is quite conceivable that private providers may be operationally more efficient and give better service. To that extent, the case for PPP is stronger in India than in the UK.

On the other hand, the regulatory capacity in India is weaker. The unambiguous lesson from the UK is that capable regulators could not prevent asset stripping and skimping on investments. There is nothing to suggest that this would not be repeated in India. Also, using PPP purely for off-balance sheet financing to reduce the short-run fiscal deficit, is penny-wise and pound-foolish because the cost of borrowing of the private sector is much higher.

Therefore, while encouraging PPP, India must be realistic, not ideological. The need is to tread cautiously. For a start, PPP must not be a short cut only to save money or bridge fiscal gaps or transfer risks; it should be used to improve service quality or bring efficiency improvements. Second, project design and the PPP components need to be carefully chosen. For instance, outsourcing labour-intensive and customer-service operations, while retaining pricing and investment in public hands, may bring in efficiencies without under-investment or over-pricing. Given the higher cost of private capital, and the inevitability of delays and related cost over-runs, construction is best financed with public borrowing though the operating asset could then be privately operated. Third, since it is impossible to write perfect long-term contracts, renegotiations are inevitable. Clear principles and a mechanism for renegotiations without moral hazard need to be planned for.

---